प्रथमावृत्ति

मूल्य

॥=)

श्रीरामकिशोर गुप्त द्वारा साहित्य प्रेस,
चिरगाँव (झाँसी) में मुद्रित और प्रकाशित ।



स्व० श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी ।

श्रीगणेशशङ्कर विद्यार्थी एक मूर्तिमान संस्था थे। ऐसे मौके पर उनकी मृत्यु का होना एक बड़ी दुखद बात है, परन्तु यह उनके योग्य ही था कि वे हिन्दू और मुसलमानो का, एक दूसरे का सिर तोड़ने से उन्हे बचाते हुए मरे। अब समय आ गया है कि हिन्दू और मुसलमान इस प्रश्न की महत्ता को महसूस करें और ऐसे दंगों के मूल कारण का अन्त करने की कोशिश करें।

* * * *

गणेशशङ्कर विद्यार्थी को ऐसी मृत्यु मिली जिस पर हम सब को स्पर्द्धा हो। उनका खून अन्त मे दोनो मजहबो को आपस में जोड़ने के लिए सीमेन्ट का काम करेगा। कोई समझौता हमारे हृदयों को आपस मे

नहीं जोड़ सकता। पर गणेशशङ्कर विद्यार्थी ने जि
वीरता का परिचय दिया है, वह अन्त में पत्थर
पत्थर हृदय को भी पिघला देगी और पिघला कर
में मिला देगी। पर वह जहर इतना अधिक फैल ग
है कि सम्भव है गणेशशङ्कर विद्यार्थी जैसे महान त्या
और वीर पुरुष का रक्त भी आज उसे धो डालने
लिए काफी न हो। अगर भविष्य में ऐसा मौका फि
आवे तो इस भव्य बलिदान से, हम वैसा ही प्रयत
करने की प्रेरणा प्राप्त करें। मै विद्यार्थी जी की विधव
पत्नी और बच्चों के साथ समवेदना नहीं प्रकट करत
बल्कि ऐसे पुरुष को पति तथा पिता रूप मे प्राप्त कर
के लिए उन्हे बधाई देता हूँ। वह मरे नहीं, आज व
तब से कहीं अधिक सच्चे रूप मे जीवित है। जब त
हमने उन्हे भौतिक शरीर में जीवित देखा तब तक हम
उन्हें न पहचाना।

—बापू (गाँधी जी)

निवेदन

उस समय मेरी पहली कविता-पुस्तक प्रकाशित हो चुकी थी। मित्रो और तत्कालीन समालोचकों के सौजन्य ने मेरा उत्साह बेहद बढा दिया था। मै इस धुन मे था कि कोई नया 'काव्य' लिखूं। इस बार मेरी दृष्टि राजस्थान की ओर थी। पराधीनता के बन्धन से छूटने के लिए राजपूत जाति ने जिस तेजोमय शौर्य का परिचय दिया था, मेरे लिए उसका आकर्षण अत्यधिक था। परन्तु एक कठिनता थी। बडे बडे पोथे पढ कर अपने लिए मनःपूत कथा-वस्तु का उद्धार कैसे किया जाय? किसी तरह के अध्ययन या परिश्रम के बिना ही मै 'कवि' बन जाना चाहता था। उन दिनों मेरी मनोवृत्ति कुछ ऐसी ही थी।

मयोग-वश उन्हीं दिनो मुझे श्रद्धेय विद्यार्थीजी से मिलने का सौभाग्य मिल गया। इससे पहले ही उनकी लिखी "हमारी आत्मोत्सर्गता" नामक पुस्तक की हस्त-लिपि पूज्यपाद भैयाजी के पास देखने के लिए आ चुकी थी। इसलिए मैं जानता था कि उनके द्वारा मेरी इच्छा-पूर्त्ति अनायास हो सकती है। मैंने उनसे प्रार्थना की कि मुझे राजस्थान का कोई ऐसा कथानक बताइए जिस पर मै एक काव्य लिखूॅ। उन्होंने कहा कि मुसलमानी राजत्वकाल के जिस तरह के काव्य-नाटक आजकल लिखे जाते हैं उनसे हिन्दू और मुसलमानों के बीच विद्वेप की ही वृद्धि होती है। यह देश के लिए अत्यन्त अहितकर है। उन्होंने मुझसे कोई ऐसा काव्य लिखने को कहा जो इस त्रुटि से रहित हो और राजस्थान के इतिहास का एक कथानक बताया। अलाउद्दीन के सेनापति महबूबखॉ ने जैसलमेर पर चढ़ाई की थी। लिखा है कि वह दिन को तो राजा से शत्रु की भॉति

युद्ध करता था और रात को मित्र की भाँति उनमें मिलता था। अन्त में, लड़ाई में राजा की मृत्यु हुई और वहाँ जौहर भी हुआ। मरने से पहले राजा अपने दो पुत्रों का भार मद्दबुल्लों को ही सौंप गया!

कथानक मुझे बहुत पसन्द आया। अच्छा दिन-वार देख कर एक दिन मैंने अपने होनहार काव्य के कुछ प्रारम्भिक पद्य लिख डाले। परन्तु न तो सुन्दर कथानक मेरे द्वारा वह कार्य सम्पन्न करा सका और न उस शुभ-मुहूर्त्त ने ही इस सम्बन्ध में मेरी कुछ सहायता की। एकाएक मेरी शारीरिक और मानसिक दशा ऐसी होगई कि वर्षों तक मेरे द्वारा कागज और स्याही का अपव्यय होने से बचा रहा। उसके बाद आँखों में आँसू और हृदय में विषाद लेकर जब मुझे फिर साहित्य की राजसभा में उपस्थित होने के लिए दैव या दुर्दैव ने बाध्य किया, तब तक उस कथानक की बात मेरे मन से बिल्कुल ही उतर गई थी। पूज्य विद्यार्थीजी के संसर्ग

का सौभाग्य भी बीसियों बार प्राप्त हुआ, पर उस विषय की चर्चा फिर कभी नहीं हुई। उनके सामने अपनी जो भी साहित्यिक फूल-पत्ती मैंने उपस्थित की, उन्होंने उसी को बहुत कुछ समझ कर प्रसन्न अन्तःकरण से मुझे सर्वदा उत्साहित किया।

* * * *

एक दिन एकाएक समाचार पत्र में पढ़ा कि कानपुर के साम्प्रदायिक उपद्रव में विद्यार्थीजी लापता होगये हैं। हृदय पर कठोरतर आघात हुआ, परन्तु उस समय आशा ने साथ दिया। इस बात पर विश्वास करने को जी ही न चाहा कि विद्यार्थीजी को दुर्दैव अचानक इस प्रकार हम लोगों से विलग कर सकता है। वह दिन तो किसी तरह बीत गया, परन्तु रात को नींद न आई। उसी अनिद्रा में मुझे विद्यार्थीजी के अनेक संस्मरणों के साथ उस कथानक की भी याद आगई। उसी समय मेरे मन मे आया कि विद्यार्थीजी जिस आग

को बुझाने के लिए अपना जीवन होम सकते हैं, उसे बुझाने के लिए मुझे अपनी नगण्य स्याही का भी कुछ न कुछ उपयोग अवश्य करना चाहिए।

इसी निश्चय ने मुझसे यह क्षुद्र कविता लिखवा डाली है। मैं विद्यार्थीजी के बताये हुए कथानक पर कुछ नहीं लिख सका, इसका मुझे खेद है। परन्तु साथ ही इस बात का सन्तोष भी है कि मैंने जिस विषय पर लिखा है, उसकी प्राण-प्रतिष्ठा केवल वाणी से नहीं, विद्यार्थीजी के प्राणों से हुई है। आज यदि वे होते तो इस तरह की कविता लिखने के लिए न जाने मेरा कितना उत्साह बढ़ाते! फिर भी, मेरा विश्वास है कि उनकी दिवगत आत्मा मेरे इस क्षुद्र प्रयत्न पर अन्तरिक्ष से आशीर्वाद की धारा ढाल रही है।

* * * *

इस कविता में विवरण सम्बन्धी त्रुटियाँ खोज निकालना कठिन न होगा। परन्तु मैंने इस बात की

का सौभाग्य भी बीसियों बार प्राप्त हुआ, पर उस विषय की चर्चा फिर कभी नहीं हुई। उनके सामने अपनी जो भी साहित्यिक फूल-पत्ती मैंने उपस्थित की, उन्होंने उसी को बहुत कुछ समझ कर प्रसन्न अन्तःकरण से मुझे सर्वदा उत्साहित किया।

* * * *

एक दिन एकाएक समाचार पत्र में पढ़ा कि कानपुर के साम्प्रदायिक उपद्रव में विद्यार्थीजी लापता होगये हैं। हृदय पर कठोरतर आघात हुआ, परन्तु उस समय आशा ने साथ दिया। इस बात पर विश्वास करने को जी ही न चाहा कि विद्यार्थीजी को दुर्दैव अचानक इस प्रकार हम लोगों से विलग कर सकता है। वह दिन तो किसी तरह बीत गया, परन्तु रात को नींद न आई। उसी अनिद्रा में मुझे विद्यार्थीजी के अनेक संस्मरणों के साथ उस कथानक की भी याद आगई। उसी समय मेरे मन मे आया कि विद्यार्थीजी जिस आग

को बुझाने के लिए अपना जीवन होम सकते हैं. उसे बुझाने के लिए मुझे अपनी नगण्य स्याही का भी कुछ न कुछ उपयोग अवश्य करना चाहिए।

इसी निश्चय ने मुझसे यह क्षुद्र कविता लिखवा डाली है। मैं विद्यार्थीजी के बनाये हुए कथानक पर कुछ नहीं लिख सका, इसका मुझे खेद है। परन्तु साथ ही इस बात का सन्तोष भी है कि मैंने जिस विषय पर लिखा है, उसकी प्राण-प्रतिष्ठा केवल वाणी से नहीं, विद्यार्थीजी के प्राणों से हुई है। आज यदि वे होते तो इस तरह की कविता लिखने के लिए न जाने मेरा कितना उत्साह बढ़ाते। फिर भी, मेरा विश्वास है कि उनकी दिवगत आत्मा मेरे इस क्षुद्र प्रयत्न पर अन्तरिक्ष से आशीर्वाद की धारा ढाल रही है।

* * * *

इस कविता में विवरण सम्बन्धी त्रुटियाँ खोज निकालना कठिन न होगा। परन्तु मैंने इस बात की

परवा नहीं की । मेरे लिखने का जो उद्देश है, सम्भवतः उसे कविता ने अपने भीतर छिपा नहीं लिया है ।

परन्तु जब उद्देश की बात आ ही गई है, तब मुझे इस बात की आशा करने का कोई आधार नहीं मिल रहा है कि हिन्दी के धनी-धोरी इसे सन्तोष के साथ देखेंगे । क्योंकि न तो यह निरुद्देश है और न ऐसी कि इसकी कोई बात समझ में आ न सके । फिर भी, मुझे विश्वास है कि विद्यार्थीजी के अगणित भक्तों की स्नेह-दृष्टि से यह वञ्चित न रहेगी । मेरे लिए इतना ही बहुत है ।

चिरगाँव
मार्ग० शु० १४-१९८८

सियारामशरण गुप्त

वञ्चित करके हमें बन्धु बन,
ठहर, अरे ठग, कहाँ चला ?
"यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते," हाँ,
जान लिया तू जहाँ चला !
तब तो हाय ! हमीं वञ्चक थे
व्यर्थ जिन्होंने तुझे छला,
करे दीन के दीवानों का
दीनबन्धु भगवान भला ।

अपनों की विरक्ति सहकर भी,
तू ने जिनका त्राण किया,
मित्र, उन्हीं ने शत्रु-भाव से
उलटा तेरा प्राण लिया।
भोले, बड़ी भूल की तू ने,
पर तू आपा भूला था,
अपने और परायेपन से
ऊपर ऊला-फूला था।
दैव दया कर हमें बुद्धि दे—
यह क्या किया, विचारें हम;
करके कुछ अनुताप आप को
आप उबारें, तारें हम।
दो पड़ोसियों के विग्रह की
आग कहीं यह बुझ जा
तो फिर भी तेरे शोणित का
मूल्य हमारा मन प

अब हम तुझे नहीं देखेंगे,
होता यह विश्वास नहीं:
किन्तु सत्य-यह क्रूर सत्य-सा !
मिथ्या होता आज कहीं !
जन-सा निज तन त्याग, गगन-सा
मन लेकर तू भाग न जा;
चिर निद्रा का समय नहीं यह,
अरे उठो, आ, जाग, न जा।
बता क्रान्तिकारी, क्या तेरी
शान्ति मनाऊँ आज सशोक?
यह तो तेरे शुद्ध शील पर
अप्रत्यय है पुण्यश्लोक !
तेरे लिए करूँ मैं कैसे
स्वर्ग-कामना मेरे मीत !
'स्वर्गादपि गरीयसी' तेरी
जन्मभूमि थी तुझे पुनीत।

दीन-दरिद्र देशवासी थे
तुझे स्वयं नारायण-रूप,
श्रमियों का संगी, कृषकों का
अंगी था तू भाषा-भूप।
निर्धनता का गर्वी था तू,
विघ्न-विजेता, गुणी गणेश,
जिस पर तू बलिदान हुआ है
तेरी तुक है तेरा देश।
मिटा एक दिन आज हमें निज
वर्तमान पर मन का क्षोभ,
उस पर उच्च अतीत काल भी
करता है ईर्ष्या या लोभ।
भगतसिंह-से शूर किसी भी
पुरावृत्त के हैं शृङ्गार;
पर पौराणिक युग में भी बस,
शिवि-दधीचि तुम से दो-चार।

—मैथिलीशरण गुप्त

श्रीगणेशाय नमः

आत्मोत्सर्ग

(स्थान—कानपुर नगर ;

तिथि—चैत्र शुक्ल ७, संवत् १९८८ वि०)

[१]

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी
अपने प्राणों से सींचे
मन ही मन हुए, मौन रहे, [illegible]
भाव-वाटिका में थे बैठे ।
चिर-प्रसन्न सुख-संकल्प पर [illegible]
फँसी चिर निद्रा [illegible] ।
किस कुयोग-वश नव यत्नन में
यह घन घोर घटा आई ?

संकट के संकीर्ण पथों पर
अटक न हो जिसको कोई,
देह-यष्टि हल्की है ऐसी,
शान्ति तेज रस से धोई।
रह रह नेत्रों से विरक्ति की
धारा वर्षित होती है;
भ्रू-धन्वा किस लक्ष्य-वेध हित
कुञ्चित कर्षित होती है ?

सोच रहे थे मन ही मन वे
"ओ निष्ठुर नौकरशाही,
भगतसिंह को फाँसी देकर
कर ली तूने मन-चाही ?
आजीवन बन्दी रख जिसको
दुख दे सकती थी दूने,
चिर विमुक्त कर घर घर उसको
स्वयं बिठाल दिया तूने !"

ध्यान भंग हो गया अचानक
 "वन्दे० आप यहाँ?" सुनके,
देखा, आकर खड़े हुए हैं
 सम्मुख एक मित्र उनके।
खड़े खड़े ही कहा उन्होंने—
 "आज नगर में है हड़ताल;
दीख पड़ रहा है बेढब-सा
 किन्तु मुसल्मानों का हाल।"

"तो फिर उन्हें छेड़ते हो क्यों?"
 झट विद्यार्थीजी बोले—
"नहीं उन्हें रहने देते क्यों
 अपनी दूकाने खोले?
अपने भाई के ही ऊपर
 यदि तुम ज़ोर जमाओगे,
तो अन्याय मिटाने जाकर
 क्या यह न्याय कमाओगे?"

संकट के संकीर्ण पथों पर
अटक न हो जिसको कोई,
देह-यष्टि हल्की है ऐसी,
शान्ति तेज रस से धोई।
रह रह नेत्रों से विरक्ति की
धारा वर्षित होती है;
भ्रू-धन्वा किस लक्ष्य-वेध हित
कुञ्चित कर्षित होती है?

सोच रहे थे मन ही मन वे
"ओ निष्ठुर नौकरशाही,
भगतसिंह को फाँसी देकर
कर ली तूने मन-चाही?
आजीवन वन्दी रख जिसको
दुख दे सकती थी तूने,
चिर विमुक्त कर घर घर उसको
स्वयं बिठाल दिया तूने!"

ध्यान भंग हो गया अचानक
"वन्दे० आप यहाँ?" सुनके,
देखा, आकर खड़े हुए हैं
सन्मुख एक मित्र उनके।
खड़े खड़े ही कहा उन्होंने—
"आज नगर में है हड़ताल;
ठीक पड़ रहा है बेढब-सा
किन्तु मुसलमानों का हाल।"

"तो फिर उन्हे छेड़ते हो क्यों?"
झट विद्यार्थीजी बोले—
"नहीं उन्हें रहने देते क्यों
अपनी दूकानें खोले?
अपने भाई के ही ऊपर
यदि तुम ज़ोर जमाओगे,
तो अन्याय मिटाने जाकर
क्या यह न्याय कमाओगे?"

"विद्यार्थीजी, बात नहीं यह,
नहीं आपको है क्या ज्ञात,
उसे बहाने का अभाव क्या,
करना है जिसको उत्पात।
पर भीतर से एक अन्य ही
चला रहा है चक्र कठोर,
और किसी के हाथों मे है
उनकी कठपुतली की डोर।

भगतसिंह तो चले गये अब,
उठिए, कुछ प्रबन्ध कीजे;
कम से कम इस पुण्य दिवस तो
अशुभ न कुछ होने दीजे।
है भर दिया गया लोगों में
वैर-बुद्धि का विष-सा घोल,
किसी दूर की ज्वाला से भी
भभक उठेगा वह पिटरोल।"

विद्यार्थी जी खड़े हो गये
चलने को होकर तैयार,
बाहर निकल उन्होंने देखा,
बन्द नगर का है व्यापार।
जिधर जिधर वे गये, उन्होंने
पाया सबको शंकित-सा,
कुछ भीषण भविष्य का लेखा
सबके ऊपर अंकित-सा।

सहसा समाचार पाया यह
उत्तेजित हो अड़ अड़ कर,
फोड़ रहे हैं सिर आपस में
हिन्दू-मुसलमान लड़ कर।
विद्यार्थी जी गये दौड़ कर
भीड़ वहाँ पर थी भारी,
क्रूर कुवचनों के ऊपर अब
भिड़ने की ही थी बारी।

समझी स्थिति तत्काल उन्होंने
झट आगे बढ़कर बोले—
"सुनो, सुनो, अन्धे बनते हो
क्यों अपनी आँखें खोले?
अरे भाइयो, कुछ तो सोचो,
यह क्या करने जाते हो,
शत्रु नहीं, सम्मुख हैं भाई,
किन पर हाथ उठाते हो?

सुनते हैं, संदिग्ध एक जन
बच्चों से छेड़ा जाकर,
किसी बुरे मतलब से दौड़ा,
'मरा, मरा मैं!' चिल्लाकर।
धिक् है, दौड़ पड़े तुम भी यों
करके ज्ञान-बुद्धि स्वाहा,
था वह कौन, न सोचा यह तक,
किया कुटिल का मन-चाहा।

इष्ट यही तो है विपक्ष को,
    तुम आपस में जूझ मरो,
अपनों का ही शोणित पीकर
    पशुओं को भी उठा धरो।
यही करोगे अरे आज क्या,
    समझदार हो तुम कैसे ?
कभी बिना कारण बच्चे भी
    नहीं झगड़ते हैं ऐसे।

किस ऋषि ने, किस पैगम्बर ने
    दिया तुम्हें है यह आदेश,
लूट-मार, उत्पात करो या
    पहुँचा कर औरों को क्लेश।
कोई दीन नहीं सिखलाता
    इस प्रकार का पापाचार;
हानि धर्म की ही करते हैं
    ऐसे पारस्परिक प्रहार।

एक दूसरे को आदर से
गले लगा सकते जो हाथ;
धिक् है, पत्थर लिए खड़े हो
उनमें घोर घृणा के साथ !
जिससे सब विद्वेष दूर कर
प्रेम-सुधा बरसा सकते,
धिक् धिक्, अरे उसी मुख से ये
कैसी बातें हो बकते ?

नहीं दूसरा है वह कोई,
उसे रहीम कहो या राम;
भिन्न उसे कर सकते हो क्या,
देकर भिन्न भिन्न कुछ नाम ?
मन्दिर में जो, मसजिद में भी
ज्योति उसी की फैली है;
यदि तुम देख नहीं सकते, तो
दृष्टि तुम्हारी मैली है ।

धर्म बचाया जा सकता क्या
लेकर हत्यारा यह क्रोध;
अच्छा बतलाया, बोलो तो,
किस मजहब ने वैर-विरोध ?
भले नहीं बन सकते हो यदि
तो न बुरे तो हो ऐसे;
अपना मनुष्यत्व खो कर यों
बनो न पशुओं के जैसे ।

बतलाओ कितने हैं ऐसे
जो कह सकते हैं यह बात ;
किसी लोभ-वश हम स्वधर्म का
करते नहीं कभी अपघात ।
दुर्लभ है मिलना ऐसों का,
ढोंग हुआ जाता है धर्म ;
बच सकता क्या दीन किसी का
करके क्रूरों के कटु कर्म ।

एक दूसरे को आदर से
गले लगा सकते जो हाथ;
धिक् है, पत्थर लिए खड़े हो
उनमे घोर घृणा के साथ !
जिससे सब विद्वेष दूर कर
प्रेम-सुधा बरसा सकते,
धिक् धिक्, अरे उसी मुख से ये
कैसी बातें हो बकते ?

नहीं दूसरा है वह कोई,
उसे रहीम कहो या राम;
भिन्न उसे कर सकते हो क्या,
देकर भिन्न भिन्न कुछ नाम ?
मन्दिर में जो, मसजिद में भी
ज्योति उसी की फैली है;
यदि तुम देख नहीं सकते, तो
दृष्टि तुम्हारी मैली है ।

धर्म बचाया जा सकता क्या
 लेकर हत्यारा यह क्रोध;
अच्छा बतलाया, बोलो तो,
 किस मजहब ने वैर-विरोध ?
भले नहीं बन सकते हो यदि
 तो न बुरे तो हो ऐसे;
अपना मनुष्यत्व खो कर यों
 बनो न पशुओं के जैसे।

बतलाओ कितने है ऐसे,
 जो कह सकते हो यह बात;
किसी लोभ-वश हम स्वधर्म का
 करते नहीं कभी अपघात।
दुर्लभ है मिलना ऐसों का,
 ढोंग हुआ जाता है धर्म;
बच सकता क्या दीन किसी का
 करके क्रूरों के कटु कर्म।

सभी श्रेष्ठ धर्मों के ऊपर
है अच्छी बातों की छाप ;
हिन्दू मुसलमान दोनों को
पाप हमेशा से है पाप ।
प्रेम करोगे प्रेम मिलेगा,
द्वेष करोगे तो विद्वेष,
उसी एक के बन्दे हैं सब,
मन से दूर करो यह त्वेष ।"

सुन गणेशजी का मृदु भाषण,
जनता शान्त हुई तत्काल;
बिखर गई वह, फिर भी उसमें
प्रेम-मिलन-सा हुआ विशाल ।
लौट गये निज निज ठौरों पर
लोग जहाँ के तहाँ तुरन्त;
साथ उड़ा ले गया धूल ही
अंधड़ का वह वेग दुरन्त ।

पर अफवाहों की काया में
घुल-मिल छल-कौशल के साथ,
फैल गये द्वेषानल के कण
निखिल नगर में हाथों हाथ।
भिन्न भिन्न भागों में सहसा
फैल उठा भीषण अन्धेर;
ईंधन में की चिनगारी को
ज्वाला बनते कितनी देर ?

उस ज्वाला से एक साथ ही
फूट पड़ा वह धूम्र-स्रोत ;
लिप्त अलिप्त सभी के मुख पर
जिसने कालिख-सी दी पोत।
यत्र तत्र हो उठा वेग से
बर्बरता का नंगा नाच;
हिन्दू मुसलमान दोनों ही
एक साथ हो उठे पिशाच !

अबला है या वृद्ध, कि बालक,
यह कुछ हाय ! नहीं देखा;
हिन्दू है या मुसलमान, बस
इसी बात का था लेखा।
एक दूसरे पर चढ दौड़े
ले लेकर पत्थर ढेले;
मनुष्यत्व तज मनुज खुले मे
खेल भेड़ियो के खेले।

ढेलों तक ही रहा न परिमित
वह भीषणता का व्यापार;
हुए सहायक उस पशुता में
ज्ञानी नर के आविष्कार।
चलने लगे निरीह नरों पर
भाले और छुरे, चाकू;
रक्षक बनने चले धर्म के
हत्यारे, गुंडे, डाकू।

लड़का लौट न पाया लेकर
मरती माँ के लिए दवा;
पथ में ही सो गया सदा को,
क्या-सेया हो गई हवा।
लिये जा रही थी कर में कुछ
माता पुत्र - स्नेहमयी,
घर के पास पहुँच कर भी हा!
बीच गली में लोट गई।

मिला जहाँ, कर दी हिन्दू ने
मुसलमान के ऊपर चोट,
मारा त्यों ही मुसलमान ने
हिन्दू को भी लूट खसोट।
पागल-से, अंधे-से हो हो,
अपनी अपनी जय जय कर;
हिन्दू मसजिद पर चढ़ दौड़े,
मुसलमान देवालय पर।

गर्वित थे बढ़ बढ़ कर दोनों
कर कर क्रूराचार यथेच्छ,
मुसलमान के मुँह पर 'काफिर,'
हिन्दू के मुँह पर था 'म्लेच्छ' ।
पर काफिर-म्लेच्छों से बढ़कर
दोनों के दोनों थे नीच;
दैत्य और राक्षस घुस बैठे
आकर दोनों के उर-बीच ।

लोगों को पीछा करती-सी
महा मृत्यु दी दिखलाई;
भय-कंपित हो छिपे घरों में
जगह जहाँ जिसने पाई ।
पत्नी पति के लिए कर उठी
माता पुत्र-हेतु चीत्कार;
दीनों, असहायों के रव से
काँप उठा नभ बारंबार ।

विद्यार्थीजी विकल हो उठे,
यह अनर्थ उत्पात निहार;
कुछ कांग्रेस-जनों को लेकर
दौड़ पड़े करने प्रतिकार ।
फँसे हुए मिलते जो कोई
अन्य धर्मवालों के बीच;
दौड़ दौड़ कर लगे बचाने
उन्हें मृत्यु के मुँह से खींच ।

करते अनुनय विनय कहीं वे
कहीं डाँट देते कर कोप—
"यह क्या करते हो ओ मूढ़ो,
ज्ञान-बुद्धि का करके लोप ।
प्रतिवेशी पर हमला करके
अरे अभागो विद्वेषी;
नहीं सोचते यह कि किसी के
तुम भी तो हो प्रतिवेशी ?"

पूर्ण अराजकता !—सत्ता थी
गुंडो, हत्यारो के हाथ;
देख रही थी लूटमार वह
पुलिस जघन्य हँसी के साथ।
अधिकारीगण ?—निज बँगलों के
भीतर थे बहु कार्य-व्यस्त;
सुननी पड़ती थीं लोगों की
कष्ट-कथाएँ उन्हें समस्त।

एक सभ्य जन दौड़ा आया
पथ के लोगों का दल चीड़,
बोला—"विद्यार्थीजी, मेरा
घर घेरे गुंडों की भीड।
घर के भीतर लड़के बच्चे
तथा स्त्रियाँ हैं सब की सब;
आग लगाने की तैयारी
हत्यारे करते हैं अब।"

"फोन पुलिस को नहीं किया क्यों ?"
"करूँ वहाँ का क्या विश्वास ?
कहा एक अधिकारी ने है—
'जाओ गांधीजी के पास ।'
प्राण हमारे बच जावें बस,
छोड़ा सब मैंने घरबार;
विद्यार्थीजी, इस विपत्ति से
किसी तरह कीजे उद्धार ।"

चकित हो गये विद्यार्थीजी
सुन आगन्तुक की बातें;
"गांधीजी के पास—आह ! ये
निपट निन्द्य, ओछी बातें ।
हँसी कर रहा दुखियों से तू
ओ निष्ठुर कर्तव्य-भ्रष्ट;
हँसी सत्य हो जावेगी, तो
हो जावेगी बुद्धि विनष्ट ।"

उसके घर की ओर गये वे
निज दल-युत दौड़े दौड़े;
बाँध रहे थे जहाँ नीच जन
मंसूबे लम्बे - चौड़े।
दूर उन्होंने की प्रयत्न कर
उन लोगों की क्रूर प्रवृत्ति;
उसके बाद पुनः वैसी ही
घटनाओं की पुनरावृत्ति!

भू पर के इस रक्त-रंग में
ऊपर का दिनकर डूबा;
रात हुई, नभ में उडुगण-युत
म्लान अर्द्ध निशिकर ऊबा!
यातायात प्रवाह पथो का
रुका काल के भाटे मे;
मूर्च्छित-सा हो गया नगर सब
रजनी के सन्नाटे मे!

सन्नाटा था, पर उसमें भी
था चिर हाहाकार वहाँ;
चिर-निद्रा की शान्ति छा गई,
पर निद्रा भी वहाँ कहाँ!
विद्युद्दीपों से दीपित थीं
सड़कें जहाँ तहाँ सारी;
निर्भय विचर रहा था उन पर
पर भीषण तम भय भारी!

शोणित की नदियाँ थीं जिसमें,
विपदाओं के तुङ्ग पहाड़,
पुर में घुस बस गया विजन वन,
दुष्प्रवेश्य गृह, लगे किवाड़!
लगे किवाड़ों के भीतर भी
किन्तु दीख पड़ता था त्रास;
टूट पड़े जाने कब ऊपर,
न था छतों का भी विश्वास!

उसके घर की ओर गये वे
    निज दल-युत दौड़े दौड़े;
बाँध रहे थे जहाँ नीच जन
    मंसूबे लम्बे - चौड़े ।
दूर उन्होंने की प्रयत्न कर
    उन लोगों की क्रूर प्रवृत्ति;
उसके बाद पुनः वैसी ही
    घटनाओं की पुनरावृत्ति !

भू पर के इस रक्त-रंग में
    ऊपर का दिनकर डूबा;
रात हुई, नभ में उडुगण-युत
    म्लान अर्द्ध निशिकर ऊबा !
यातायात प्रवाह पथों का
    रुका काल के भाटे में ;
मूर्च्छित-सा हो गया नगर सब
    रजनी के सन्नाटे में !

सन्नाटा था, पर उसमें भी
था चिर हाहाकार वहाँ;
चिर-निद्रा की शान्ति छा गई,
पर निद्रा भी वहाँ कहाँ!
विद्युद्दीपों से दीपित थीं
सड़कें जहाँ तहाँ सारी;
निर्भय विचर रहा था उन पर
पर भीषण तम भय भारी!

शोणित की नदियाँ थीं जिसमें,
विपदाओं के तुङ्ग पहाड़,
पुर में घुस बस गया विजन वन,
दुष्प्रवेश्य गृह, लगे किवाड़!
लगे किवाड़ों के भीतर भी
किन्तु दीख पड़ता था त्रास;
टूट पड़ें जाने कब ऊपर,
न था छतों का भी विश्वास!

बदल पैतरा-सा फिर लौटा
विग्रह-दैत्य प्रबल होकर;
क्रुद्ध नेत्र धोकर शोणित से
जाग पड़ा कुछ पल सोकर!
हुआ इधर 'अल्ला हो अकबर',
हुई उधर 'जय मारुति की';
बर्बरता के अग्नि-कुंड में
भव्य भाव की आहुति-सी!

तमसाच्छन्न तंग गलियों से
निकल उठे गुंडों के दल;
उंसनींदी निशि को झकोर कर
फैल उठा कटु कोलाहल।
वे गृह रुद्ध पटों से थे जो,
क्रूर-कलह से मुँह फेरे;
जहाँ-तहाँ चढ़ दौड़े उन पर
नीच लुटेरे बहुतेरे।

बचे वही जो शीघ्र दे सके
गुंडों को मुँह-माँगा द्रव्य,
थे जो दीन अकिंचन, उन पर
टूट पड़ा भीषण भवितव्य।
भाग सके जो बड़भागी थे,
किन्तु भागने में क्या सार?
पथ भी विपथ हो गये थे सब,
बन्द सभी के थे सब द्वार!

ऐसे कितने ही द्वारों पर
छिड़क छिड़क मिट्टी का तेल,
अट्टहास कर कर हत्यारे
खेल उठे होली का खेल।
नाच उठीं ज्वालाएँ नभ में
इधर-उधर, दाएँ-बाएँ;
लप लप करने लगीं लपक कर
महाकाल की जिह्वाएँ।

उन्हें देख विद्युद्दीपक भी
हीन-प्रभ-से हुए तुरन्त;
निज प्रकाश से भी आगे था
उनका दाहक दाह दुरन्त !
उस दुर्दान्त अग्नि-कारा से
निकल न पाये हतभागे;
उन जीवन्त चिताओं में ही
प्राण अनेकों ने त्यागे।

अग्नि देख कर जो शिशु-बालक
किलक प्रसन्न प्रभूत हुए,
उड़ते हुए कृशानु-कणों-से
पल में भस्मीभूत हुए।
अग्नि देख छटपटा उठे जो
घर में ही दौड़े हा! हा!
ऐसी स्त्रियाँ, तरुण, बूढे भी
हुए क्षणों मे ही स्वाहा!

अन्धकार मे अर्द्ध निशाकर
खिसक गया निज ज्योति समेट;
कॉप उठे भिलमिल तारागण
निरख निरीहो का आखेट।
मारुत भी निस्पन्द हो उठा
करके शान्त स्वगति की झोक;
कहीं तेज हो जाय न उससे
अग्नि-शलाकाओ की नोक!

पर बढ़ती जाती थी ज्वाला
विद्यार्थीजी के मन की;
अन्य लोक मे थे वे मानो,
सुधि-बुधि उन्हे न थी तन की।
आगन के घेरे के भीतर
चक्कर काट रहे थे वे;
दूर-दूर तक दौड़ रहे थे
मन के साथ बहे-से वे।

उन्हें देख विद्युद्दीपक भी
हीन-प्रभ-से हुए तुरन्त;
निज प्रकाश से भी आगे था
उनका दाहक दाह दुरन्त !
उस दुर्दान्त अग्नि-कारा से
निकल न पाये हतभागे;
उन जीवन्त चिताओं में ही
प्राण अनेकों ने त्यागे।

अग्नि देख कर जो शिशु-बालक
किलक प्रसन्न प्रभूत हुए,
उड़ते हुए कृशानु-कणों-से
पल में भस्मीभूत हुए।
अग्नि देख छटपटा उठे जो
घर में ही दौड़े हा! हा!
ऐसी स्त्रियाँ, तरुण, बूढ़े भी
हुए क्षणों में ही स्वाहा!

अन्धकार

काँप उठे

मारुत

कहीं तेज

पर

अन्य

छत पर चढ़कर कभी देखते
विस्तृत विपुल सौधमाला;
कैसी भीषण थी रजनी की
विषम मूर्ति वह विकराला!
मूर्च्छित हतपुत्रा-सी थी वह
घन-तम की वेणी छूटी,
बीच-बीच में कह उठती थी
करुण गिरा टूटी-फूटी।

लगे सोचने मन-ही-मन वे
दृष्टि डालकर चारों ओर—
"ऊपर-नीचे इधर-उधर यह
अन्धकार है कैसा घोर!
जानें क्या-क्या नहीं किया है
दुष्टों के झुण्डों ने आज;
कर डाला है प्रलय-कांड-सा
इन गर्हित गुण्डों ने आज!

किन्तु चाहते अधिकारीगण
तो क्या हो सकता था यह ?
उनका एक प्रयत्न पलों में
विग्रह धो सकता था यह।
कुछ हो कहीं, उन्होंने तो यह
अवसर-सा अवसर पाया;
हो अनर्थ उत्पात, बला से;
उत्सव उनके घर आया !

बच्चों पर, अबलाओं पर जो
दौड़ा सकते हैं घोड़े;
फायर किये जिन्होंने शतशः,
निश्शस्त्रों के सिर फोड़े।
तुम हो वही—आज गुण्डों पर
दया हुई तुमको कैसे ?
कहने को हम से—'स्वराज्य के
अधिकारी तुम हो ऐसे !'

मन में तुम आनन्द मना लो,
कर लो उद्घोषित यह बात—
'हिन्दू-मुसलमान दोनो ही
बर्बर हैं, मद हैं—बदज़ात !'
पर तुम भी कैसे हो, क्या हो ?
तुम पर भी है क्रूर कलङ्क;
सौ सागर भी धो न सकेंगे
तुम्हें लग गया है जो पंक।

किस मुँह से कहते हो तुम यह
'जाओ गांधीजी के पास ?'
राज-पाट से भी बढ़ कर निज
गँवा दिया तुमने विश्वास।
दंगा रोकेंगे गांधीजी,
राज-छत्र धरोगे तुम ?
इसी तरह निज कीर्ति-पताका
ऊँची और करोगे तुम ?

जो कुछ शक्य करेंगे वह हम,
जगती को दिखला देंगे;
जिन पर ताने तोड़ रहे हो,
वे ही कुछ सिखला देंगे।
शासन की स्वयोग्यता का अब
सुख यों ले न सकोगे तुम;
मन को दे लो, किन्तु जगत को
धोखा दे न सकोगे तुम।

अरे आज क्या हुआ विपर्यय!
क्या अब होगा नहीं प्रभात?
गुण्डों के षड्यन्त्र-जाल में
जकड़ गई है क्या यह रात?
अच्छा हो, यह कुटिल तमिस्रा
यदि ऐसी ही घनी रहे!
यह कलङ्क, यह क्रूर-कालिमा
लुप्त इसी विधि बनी रहे!"

झट गणेशजी उस मुहाल मे
पहुँच गये मानो उड़कर;
पथ को रोके हुए खड़े थे
दल-के-दल हिन्दू जुड़ कर-।
फँसे हुए थे एक गेह मे
मुसलमान परिवार कुछेक;
बाहर भी थे जीवन्मृत-से
आहत, भय-संत्रस्त अनेक।

प्रश्न चल रहा था आपस मे—
कैसी गति इनकी की जाय;
झट-पट बिना किसी झंझट के
क्या शिक्षा इनको दी जाय?
पत्थर मार मार कर इनको
दिये जायँ द्रुत दुख दूने;
अथवा घर में आग लगाकर
जीवित ही इनको भूने।

भरी भीड़ में भी उनके हित
झट से मार्ग निकल आया;
उत्पीड़ित लोगों ने मानो
नव-जीवन, नव-बल पाया।
"बतलाओ, यह क्या करते हो?"
बोल उठे वे घन-गंभीर,
पुनः उसी वाणी को नभ में
प्रतिध्वनित कर उठा समीर।

स्तब्ध हो गये उत्पीड़क जन
वह वाणी सुन कर क्षण भर;
"बतलाओ, यह क्या करते हो?"
सहसा दे न सके उत्तर।
किसी तरह संकोच छोड़ तब
एक व्यक्ति कह सका यही—
"किया हमारे साथ गया जो
करते हैं हम लोग वही।"

"तो क्या तुम अच्छा करते हो ?"
उत्तर दिया उन्होंने झट—
"निन्दित, नीच, जघन्य कार्य कर
भरते हो तुम अपना घट ।
किस हिन्दू ने हाथ उठाया
असहायो के ऊपर कब ?"
हिन्दू होकर घोर अहिन्दू
बनने चले अरे क्यो अब ?

"नहीं अहिन्दू है कदापि हम ।"
बोले उनमे से कुछ लोग—
"अब हम आज खड़े फिर होगे,
यही हमारा है उद्योग ।
न थे अभी तक होकर भी हम,
नहीं रहेगी अब यह बात;
नहीं सहेगे घात और हम,
जागा है हम मे प्रतिघात ।"

"यह कैसा प्रतिघात तुम्हारा ?"
बोल उठे वे शीघ्र सतेज—
"रिक्षा रहे अपने हाथों यह
अपने महामरण की सेज।
ऐसे उठने के बदले तो
अच्छा था, गिर जाते तुम;
हिन्दू-कुल के माथे पर यह
कालिख तो न लगाते तुम!

पाओगे दृष्टान्त न कोई
खोलो निज इतिहास, पुराण;
जहाँ किसी हिन्दू ने बढ़कर
किया न हो औरों का त्राण।
सब कुछ तो खो चुके अरे अब
यह महत्व भी खो दोगे;
हाथ उठा इन बेचारों पर
कहो कौन-सा यश लोगे ?"

हँसे लोग कुछ—"क्या कहना है !
कैसे हैं ये बेचारे—
नहीं जानते हो गणेशजी,
इनके क्रूर कर्म सारे ।
अबलाओं के स्तन काटे है,
भाँति-भाँति के कष्ट दिये;
आग लगा कर फूँक दिये घर,
मंदिर नष्ट-भ्रष्ट किये ।

हुआ मुसलमानी बस्ती में
जितना जो कुछ क्रूराचार;
सुनकर उसे कठिन पत्थर भी
छोड़ उठेंगे ज्वलितांगार ।
बदला लेना है हमको तो,
कुछ हो, हम बदला लेंगे;
जैसे को तैसे हैं हम भी—
आज यही दिखला देंगे ।"

बोले विद्यार्थीजी झट से—
"जैसे को तैसा होना,
इसके लिए गर्व करते हो ?
यह तो है गौरव खोना।
शतमुख से निन्दा करते हो
जिन कटु कर्मों की इस भाँति
उनकी पुनरावृत्ति करोगे
अपने ही हाथों किस भाँति ?

यह बदला लेना है तो फिर
बर्वरता कैसी होगी;
निन्द्य नीचता किसे कहेंगे
यदि प्रवीरता है ऐसी ?
उबल उठा क्यों रक्त तुम्हारा
हुई आज ऐसी क्या बात;
आज प्रथम ही देखा है क्या,
उत्पीड़न, लांछन, अभिघात ?

सदियों के पद-दलित अरे ओ !
खौला आज तुम्हारा ख़ून,
तो क्या आज उठा ही दोगे
न्याय धर्म-सम्मत क़ानून ?
जैसे हो वैसे होकर भी,
क्या तुम नहीं रहोगे शान्त;
होंगे क्षान्त कहाकर ही क्या
पापी हत्यारे दुर्दान्त ?

हत्या से वीरत्व नहीं है,
यह तो है क्रूरों का कर्म;
निधन नहीं, रक्षा करना ही
है सच्चे शूरों का धर्म।
बढ़कर पाप नहीं इससे कुछ,
जो कुछ करने जाते हो;
घोर भ्रान्ति में पड़ घर में ही
तुम यह आग लगाते हो।"

कहा एक जन ने—"जिस घर में
घोर भुजंग रहे हों जाग;
उसकी ममता परित्याग कर
अच्छा है कि लगा दे आग।
सब कुछ तो जल चुका प्रथम ही
अब क्या खाक डरेंगे हम;
जो कुछ पाया है, हिसाब वह
सब बेबाक करेंगे हम !"

विद्यार्थीजी बोल उठे फिर
बरसा कर दृग-दीप्ति नवीन -
"क्या हिसाब बेबाक करोगे
करके अपने को यों हीन ?
ऋण-परिशोध नहीं होता है
करके निज गौरव की हानि;
जो करने जाते हो उसकी
नहीं मिट सकेगी चिर ग्लानि।

करना है ऋण-शोध तुम्हे, तो
इन्हे छोड़ दो इसी समय;
इन्हें मारने जाकर तो तुम
प्रकट कर रहे हो निज भय।
यदि अनिष्ट कर सकते हों कुछ
स्त्रियाँ और बच्चे ये छूट;
तो अपने किस बल के ऊपर
करते हो यह गर्व अटूट ?

इन्हे छोड़ दो, ये स्वजनों के
दुष्कृत्यों की ओर निहार—
अपने भीतर की ज्वाला मे
दग्ध स्वयं हों वारंवार।
साँप देखते हो तुम किन मे
ये अबलाएँ हैं माएँ;
इन्हे फूँक दोगे क्या, ये तो
हैं वत्सोंवाली गाएँ।

करते हो आगे बढ़ बढ़ कर
जिन क्रूराचारों की बात;
किस घर के भीतर थे तब तुम
घटित हुए जब वे उत्पात?
यदि बल था, तो वहाँ पहुँच कर
उन्हें रोकते, अड़ जाते;
तुम्हें देखते ही गुण्डों के
दल सब पीले पड़ जाते।

वे गुण्डे तो लूट-मार कर,
अब भी फिरते हैं स्वच्छन्द;
रोष उतार रहे हो इन पर
करके इन्हें यहाँ पर बन्द।
हत्यारे तो मौज मनावें
पीसे जायँ अबल असहाय;
रुच सकता है किसे कहो तो
यह अन्धेरपुरी का न्याय?"

"अपने-जैसा ही गणेशजी,
सब को समझ रहे हैं आप;
पर किसके मत्थे जावेगा
इन्हें छोड़ देने का पाप?
यही दीन जो दीख रहे हैं,
अभी दीनदारों के साथ;
हाय! हमारे ही गृह-मन्दिर
नष्ट करेंगे हाथोंहाथ।"

"दोषी इसके लिए तुम्हारा
नहीं, विश्व का मानव-धर्म,
भाई, हम तो वही करेंगे
जो है अपने लिए सुकर्म।
और इन्होंने उन पापो से
रोका अपनो को जाकर;
तो न बाँट देना तुम मुझको
इसका पुण्य स्वयं पाकर।

आततायियों को मारो तुम,
इसमें उतना दोष नहीं;
पर इन अबलाओं पर भी क्या
समुचित है यह रोष कहीं ?"
"अरे, यही तो जनती हैं वे
हत्यारे, अत्याचारी;
सजातियों को छोड़ जिन्हें है
काफिर यह दुनिया सारी।"

"तुम भी इसीलिये होगे क्या
अत्याचारी, हत्यारे ?
नहीं कदापि बुरे हो सकते
किसी जाति के जन सारे।
आज सहस्रों मुसलमान हैं
राष्ट्र-हेतु कर रहे प्रयत्न;
साथ तुम्हारे जेल गये जो
इसी जाति के वे रत्न

एक तुम्हारा प्रतिवेशी यदि
है सङ्कीर्ण और अनुदार;
इसका दोष तुम्हें भी है कुछ
कर देखो तुम न्याय-विचार।
न्याय-विचार न छोड़ो भाई,
दूर करो यह दारुण रोष;
वही स्वयं तुम करो न, जिसके
लिए दूसरों को दो दोष।

वे गुण्डे हैं निन्द्य, जिन्होंने
शुचि देवालय हैं तोड़े;
मान्य मसजिदों के गुम्बज पर
तुम अन्धों ने क्यों फोड़े?
किया अनुकरण भी तो तुमने
औरों के ओछेपन का;
किया पतन ही तो स्वधर्म के
परम पुनीत निकेतन का।

सिवा गुण्डपन के ये गुण्डे
कर ही सकते थे क्या और?
तुमसे हुआ किन्तु यह कैसे
बनकर श्रेष्ठों के सिरमौर।
होगे तुम यदि मान्य महज्जन
तो इस भाँति नहीं होगे;
हिंसा करके हिंस्र जनों की
हिंसा ही भड़का होगे।

हिंस्र भाव पर भस्मासुर-से
होते हैं सब अस्त्र विफल;
भस्मीभूत बना सकता है
उसे उसी का पापानल।
तुम तो हिन्दू हो—करते हो
गांधीजी का जय जयकार;
उन्हें तोप दोगे क्या यों ही
करते हुए उन्हीं पर वार?"

कहा किसी ने तब—"गणेशजी,
　　हमने जो कुछ किया, किया;
किन्तु शिकारी का शिकार-सा
　　आज आपने छीन लिया!"
बोल उठा कोई—"पश्चिम में
　　नित्य नई शूली पाकर,
प्रकटे हैं ईसा मसीह ये
　　अब हम लोगों में आकर!"

मुसकाए—बोले गणेशजी—
　　"क्या तुम भी फाँसी दोगे?
पहले मुझे मारकर पीछे
　　मेरा बपतिस्मा लोगे?
ईसा को प्रणाम, पर होना
　　होगा हमें न ईसाई;
बुद्ध और बापू में हमने
　　यहाँ वही प्रभुता पाई।

अरे, आज सत्पुरुष हो तुम मैं
फिर से करते हो अभिमान,
अन्य धन तुम यों न को हो
इस अपूर्व अवसर का लाभ।
परिश्रम पीन हुआ मनोरथ पर
अपने प्रभु देना था स्वर:
पर तुम अपने कुलदेव से
रहो अखण्ड आस्तिक भाव।

सुनो भाइयो, बहनो, माओ,
है नरोत्तमठाकुर जब तक;
देखें कौन उठा सकता है
उँगली तक तुम पर तब तक!
आग लगेगी यदि इस घर में
तो यह, प्रथम जलूँगा मैं;
मेरा दृढ़ निश्चय है, इससे
नहीं कदापि टलूँगा मैं।"

जलती हुई आग के ऊपर
पड़ी प्रबल नव जल-धारा;
वह असह्य उत्ताप वहाँ का
शान्त हुआ तत्क्षण सारा।
घिरे हुए स्त्री-बच्चे जन सब
लेने लगे मुक्ति की साँस;
मानो भीतर के भीतर से
निकल गई पीड़ा की आँस।

बरसा में ज्यों अर्क-जवासे,
मन में खिन्न हुए कुछ व्यक्ति;
बोले वे विद्यार्थीजी से
प्रकटित कर निज विषम विरक्ति—
"छोड़ दिया हमने तो इनको
मान्य आपका है आदेश;
पर क्या यों ही छूट जायँगे
फँसे हिन्दुओं के भय-क्लेश?"

"तो इन असहायों का वध कर
उन्हें जिला लेते क्या तुम ?
गरल घोलकर यहाँ किसी को
अमृत पिला देते क्या तुम ?
अच्छा, इन्हें निकलने दो अब—
ध्यान उधर भी दूँगा मैं;
जाऊँगा उन लोगों में भी
निज कर्तव्य करूँगा मैं।"

अभयदान पाकर विभीत जन
निकले घिरे हुए घर से;
दुख से परिवर्तित हो सुख में
अविरल अश्रु-सुमन बरसे !
विद्यार्थीजी ने मधु-मिश्रित
करके करुणा - दृष्टि - निक्षेप
लोगों के विक्षत घावों पर
लगा दिया ठंडा-सा लेप !

बढ़ कर तब उनके पैरों पर
लोट गये कुछ जन आश्वस्त;
लगा लिया तत्क्षण छाती से
उन्हे उन्होंने होकर व्यस्त।
बाँध लिया निज बाहु-पाश में
छुड़ा मृत्यु - भय - बन्धन से;
प्राणामृत-सा लगे पिलाने
मानो निज तन से, मन से!

"भूलेंगे न कभी पण्डितजी,
किया आपने है जो कुछ;
अदा कभी हम कर न सकेंगे
दिया आपने है जो कुछ।
आते आप न तो हम सबका
यहाँ न रहने पाता नाम;
किया नहीं अहसान आपने,
बना लिया है हमे गुलाम।"

"सत्यानाश हुआ हा हा !
तुम तो हो अपने भाई;
फिर कहो बात ही कैसी,
जो इस आफत में आई।
इस में क्या अपमान किसी का,
यह तो था अपना ही काम,
क्या [illegible] की ही थी वह
हुए नहीं [illegible] तो [illegible]।

पहुँचा है यहाँ आपको,
जाना चाहिए आप यहाँ,
कहना यही हमारा है अब,
भूल जायँ जो हुआ यहाँ।"
"भूल जायँ जो हुआ यहाँ पर—
यह क्या फरमाते हैं आप:
जो सलूक है किया आपने
कर सकते न कभी माँ-बाप।"

"इसे मानते हैं सलूक ही
तो है यही हमारी बात—
आप यहीं पर सच्चे जी से
कर दें दूर बुरे ख्यालात।
हिन्दू-मुसलमान दोनों ही
एक डाल के हैं दो फूल;
और एक ही है दोनों का
बड़ा बनानेवाला मूल।

लड़ा रहे हैं जो इन दो को,
इस में है उनका मतलब;
भला दूसरे का क्या होगा
बुरा एक का होगा जब।
जाकर सहधर्मी लोगों को
यही बात समझा दें आप;
देख चुके हैं यहाँ स्वयं ही
झगड़े में कितना क्या पाप।"

अब विद्यार्थीजी ने मुड़ कर
देखा महिलाओं की ओर;
काँप रही थीं लतिकाएँ वे
यदपि न थी भय की झकझोर।
"माताओं, बहनो, भय छोड़ें,
नहीं आप घबराएँ अब।"
"भला करे अल्लाह आपका!"
देने लगीं दुआएँ सब।

हर्षित होने लगे लोग तब
कर गांधीजी का जय-घोष;
अब विद्यार्थीजी के जी में
प्रकट हुआ कुछ-कुछ परितोष।
कुछ सवारियाँ बुलवाकर द्रुत,
जाना था अब जिसे जहाँ;
नवोत्साह-पूर्वक उन सबको
वे पहुँचाने लगे वहाँ।

आहत थे स्त्री-बच्चे-जन कुछ,
उन तक पहले जाते वे;
उन्हे धैर्य देकर सुख-पूर्वक
प्रथम सवार कराते वे।
रवि दिन के उत्तुङ्ग शृङ्ग से
खिसक रहा था होकर शान्त;
किन्तु व्यस्त थे वे स्वकार्य मे
उसी पूर्व-गति से अक्लान्त।

कहा एक जन ने—"गणेशजी,
अब तो कुछ सुस्ता लें आप;
प्रस्तुत हैं हम लोग, करेंगे
जो कुछ कार्य बता दें आप।"
कहा उन्होंने—"क्या सुस्ता लें,
अभी कहाँ, कैसा विश्राम?
हम, तुम, सब मिलकर भी पूरा
नहीं कर सकेंगे यह काम।"

"यह तो आप ठीक कहते हैं,
कर लें किन्तु तनिक जल-पान;
इस शरीर को भी थोड़ा-सा
दें निज करुण दया का दान।"
"ध्यान दिलाते हो क्यों इसका,
छोड़ी दया कहाँ तुमने ?
बन कर नीच मचा दी कितनी
शोणित-कीच यहाँ तुमने।

निधन किया है निर्दयता से
कितने दीन-अनाथों का;
कैसे पिऊँ यहाँ यह जल मैं
रक्त-भरे इन हाथों का ?
पानी पीने बैठेंगे हम,
सूखेंगे इनके मन-प्राण;
बातें किसी समय फिर होंगी,
हो ले प्रथम जनों का त्राण।"

यथास्थान वे मुसलमान सब
पहुँचा दिये गये क्रम से,
श्रान्ति नहीं, पाई सुशान्ति ही
विद्यार्थीजी ने श्रम से ।
अब वे बढ़े वहाँ से आगे
नवोल्लास से मढ़े हुए;
अपने उच्च मनोरथ-रथ पर
दृढ़ता - पूर्वक चढ़े हुए ।

जाते हुए देख लोगों ने
आकर उनको घेर लिया;
"आप कहाँ जाते हैं अब यों ?"
बहु कण्ठों ने प्रश्न किया ।
"फँसे मुसलमानों के दल में
हैं जो हिन्दू बेचारे;
खोज-खबर उनकी भी तो लें,
मारे जायँ न वे सारे ।"

"विद्यार्थीजी, वाह ! आप यों
एकाकी चल खड़े हुए;
नहीं आपको जाने देंगे,
ये हम सब हैं अड़े हुए।
आप समझते हैं क्या यों ही
मान जायँगे वे सब भी ?
हिंस्र-वृत्ति प्रकटित है उनकी
वहाँ जा रहे हैं तब भी ?

नहीं अकार्य उन्हें कुछ भी, वे
हैं पूरे धर्मोन्मादी;
हम अहिंसकों में भी हिंसा
घोर जिन्होंने फैला दी।
अन्धे हैं वे, शत्रु-मित्र का
उनको कोई भेद नहीं;
अपने निन्द्य नृशंस भाव पर
मन में कोई खेद नहीं।

कुशल करे भगवान—वहाँ पर
हुआ आप पर भी यदि वार;
एक साथ ही उमड़ पड़ेगा
रोष-क्षोभ का पारावार।
आप शान्ति करने जाते हैं,
हो जावेगी क्रान्ति खड़ी;
फिर से आप विचार लीजिए—
होगी कितनी भ्रान्ति बड़ी।

नहीं आप अपने ही हैं अब,
निखिल देश के धन हैं आप;
उसके जीवन के भी जीवन,
कोटि जनों के जन हैं आप।
स्वेच्छाचार कदापि आप यों
कर न सकेंगे किसी प्रकार,
बहुत किये हैं, और करेंगे
सहठ एक यह अत्याचार!"

बोले विद्यार्थीजी—"भाई,
जी मे नहीं डरो तुम यों;
स्वेच्छाचार करे कोई तो
अत्याचार करो तुम क्यों ?
पर यह स्वेच्छाचार नहीं है,
है मेरा निश्चित ध्रुव धर्म;
पीछे हटना नहीं चाहिए,
हो न कठिन ही क्यो शुभ कर्म ।

निश्चय ही है नहीं निरापद
जहां जा रहा हूँ वह ठौर;
किन्तु वहा जाना ही होगा
इसके सिवा नहीं गति और ।
मेरा मन मेरे भीतर से
मुझे दे रहा है आदेश—
जाऊँ वहाँ, मिटाऊँ जाकर
उत्पीड़ित लोगो का क्लेश ।

धर्म-श्री है रुद्ध सदा से
विपत्-सिन्धु के ही उस पार;
उसे लाँघ कर्मिष्ठ कृती ही
करते हैं उसका उद्धार।
जीवन जलज-पत्र का जल-कण,
इसके लिए नहीं भय है;
बढ़ते हुए धर्म के पथ में
प्रकट पराजय भी जय है।"

इसी समय उत्तेजित होकर
एक व्यक्ति रस्सी लाया;
"नहीं मानते हैं ये, इनको
यहीं बाँध लो"—चिल्लाया।
चौंक पड़े सब लोग देख कर,
विद्यार्थीजी मुसकाये—
"सरकारी बेड़ियाँ बहुत हैं,
तुम क्यों यह रस्सी लाये?"

मधुर हास में मग्न हो गया
    उसका यह प्रगल्भ व्यवहार;
इसी प्रकार किया करता है
    कभी प्रेम भी अत्याचार।
"विद्यार्थीजी, क्षमा कीजिए,
    हम से हुआ बड़ा अपराध;
साथ-साथ हम लोग चलेंगे,
    चलें आप निश्चिन्त अबाध।"

"अच्छी बात, साथ हो लें तो
    बहुत नहीं जन दो या चार;
पर वे न हों मारनेवाले
    हों मरने को ही तैयार।
दो हिन्दू, दो मुसल्मान, यों
    चार स्वयंसेवक लेकर;
विद्यार्थीजी बढ़े वहां से
    लोगों को प्रबोध देकर।

[३]

गई न थीं गलियाँ भी सीधी
वहाँ, जहाँ था भय-विभ्राट;
कुञ्चित होती हुई बढ़ी थीं
इधर-उधर मुड़ चक्कर काट।
उन पर वे दृढ़ पदक्षेप कर
बढ़ते जाते थे आगे;
शंकाओं की तमस्विनी में
ओज-भरे जागे-जागे।

बीच-बीच में पथ पर उनको
पड़े हुए मिलते शव थे;
कुछ ज्वलन्त गृह मरण-चिता का
धूम्र छोड़ते नीरव थे।
फैल रही थी दूर-दूर तक
दुस्सह गन्ध अपावन घोर;
मिलते विरल व्यक्ति डरके-से
ज्यों निज प्राण-धनों के चोर!

सहसा "काफ़िर है!" चिल्लाते
मुसलमान कुछ दीख पड़े;
लिये हुए निज-निज हाथों में
डंडे - बल्लम बड़े बड़े।
खड़े हो गये विद्यार्थीजी,
वे दौड़े दौड़े आये,
"ये तो पण्डितजी हैं!" कहकर
उन्हें देख कर शरमाये।

मुसलमान कुछ और आ गये
सुन विद्यार्थीजी का नाम;
बड़े अदब से झुक पैरों पर
करने लगे विनम्र प्रणाम।
"आज बचा लेता जो हमको
न था किसी में ऐसा दम;
आप आ गये थे पण्डितजी,
जिन्दा इसीलिए हैं हम।

मगर आप इस वक्त यहाँ क्यों
घूम रहे हैं नंगे पैर?
वैर यहाँ फैला है ऐसा
नहीं किसी हिन्दू की खैर।"
"आया हूँ मैं इसीलिए तो
वैर-भाव यह दूर करूँ:
मित्र आप-जैसे भी तो हैं,
क्यों मैं अपने लिए डरूँ?

अभी सुना है, उधर सड़क के
कुछ हिन्दू हैं फँसे हुए;
घर में नाज-भरे बोरों-से
आपस में हैं गँसे हुए।
झट-से जाकर उन्हें बचा लें
इस में हमें मदद दें आप;
अब तक जो हो चुका, हो चुका,
बढ़ने न दें और यह पाप।"

वैर-प्रेम में परिणत करके
लेकर उन लोगों को साथ;
बचा लिये विद्यार्थीजी ने
कितने ही असहाय अनाथ।
स्वयंसेवकों से संरक्षित
पाकर प्राणों का आधार;
जाने लगे वहाँ से सत्वर
कितने ही हिन्दू-परिवार।

विद्यार्थीजी मनोयोग से
थे उद्धार-कार्य में व्यस्त;
सहसा "अल्ला हो अकबर" से
गूँज उठा आकाश समस्त!
क्रुद्ध मुसलमानों के दल कुछ
करते हुए भयङ्कर नाद,
बढ़े चले आते थे, जो थे
मूर्तिमन्त मारक उन्माद।

उस प्रवाह के लिए बाँध-से
तन कर वे हो गये खड़े;
दीप्त दृगो मे पावक-कण-से
सुप्रदीप्त कुछ दीख पड़े।
"काफिर हैं, काफिर है, मारो!"
उत्तेजित जन चिल्लाये;
विद्यार्थीजी बिना झिझक के
झट से आगे बढ़ आये—

"-'काफ़िर?'—वह करीम उनको भी
देता है दाना - पानी;
पर 'अल्ला हो अकबर' कहकर
ठीक नहीं है शैतानी।
अरे खुदा के बन्दो, ठहरो,
क्या करने जाते हो आह!
बचो, बचो, शैतान भुला कर
तुम्हे कर रहा है गुमराह।

नहीं भागने को आया मैं,
मुझे भले ही मारो तुम;
फिर भी सब हिन्दू न मरेंगे,
जी में जरा विचारो तुम।
अरे, प्यार का प्याला रहते
भाया है क्यों जहर तुम्हें?
कहर करोगे कहर मिलेगा,
महर करोगे महर तुम्हें।"

हाजिर मेरा खून, तुम्हारा
फूले-फले अगर इस्लाम;
जिसकी खूबी बतलाते हो
भाई-चारे का पैगाम।
भाई, उसके लिए चाहिए
तुम में दुनियाँ भर का प्यार;
मगर तुम्हारे हाथों में है
नाच रही नङ्गी तलवार।

सड़ी-सड़ी बातों पर हम दो
भाई लड़ते-मरते हैं।
और तीसरे हँस कर हम पर
हाय! हुकूमत करते हैं।
यह दोजख की आग जला कर
क्या बहिश्त में जाओगे?
आप गुलामी गले लगाये
आजादी क्या पाओगे?

मन्दिर तोड़, तोड़ कर तुमने
आज मसजिदें तुड़वाई ;
राम-रहीम एक की दो दो
जगहें गोड़ी, गुड़वाई ।
नहीं मसजिदें ही उसकी है,
गिरजे भी है, मन्दिर भी ।
वन्दे बहुत-बहुत है उसके
मगर एक वह है फिर भी ।

राम-खुदा के पाक नाम पर
करके शैतानो के काम,
क्या शहीद हो सकते है हम
उस मालिक के नमकहराम ?
ऐसे हिन्दू-मुसलमान से
मैं 'मलेच्छ-काफिर' ही खूब;
मन्दिर-मसजिद से पहले है
मुझ में ही मेरा महबूब !

अरे इसी में मौज-मजा है
लगा-लगाकर हम बाजी,
तरह-तरह से आव-भगत कर
हिल-मिल उसे करें राजी।
सदियों तक आपस मे लड़ कर
करते रहे बराबर वार,
एक बार तो वैर छोड़ कर
भाई, कर देखो तुम प्यार।

इसी मुल्क में हुए, और, हम
यहीं रहेंगे आगे भी;
लड़-मर कर सह चुके बहुत, क्या
और सहेंगे आगे भी ?
अब मत भोगो, अपने हाथो
अरे बहुत तुम ने भोगा;
हिन्दू-मुसलमान दोनो का
यह संयुक्त राष्ट्र होगा।"

ठिठक गये थे क्षण-भर घातक,
किन्तु भेड़िये सदय कहाँ ?
"हिन्दू ही या मुसलमान ही,
बस अब कोई एक यहाँ !"
"रुको"—किसी ने कहा भीड़ में
"ये तो पण्डितजी हैं वाह !
बचे बहुत-से मुसलमान हैं
पाकर इनसे आज पनाह।"

"पर उसका अहसान जता कर
नहीं चाहता मैं बचना,
अपना फर्ज अदा करने में
मुझे कहीं भी है पचना।
मैं अपना अहसान जताने
आया नहीं सुनो भाई,
अपना दावा पेश कराने
इंसानियत मुझे लाई।"

कुछ न सुना उन हैवानों ने
थे वे धर्मोन्मत्त बड़े,
आड़े हुए स्वयंसेवक, वे
प्रथम उन्हीं पर टूट पड़े।
तत्क्षण ही ज्वालाप्रसाद तो
अमर हुआ नीचे गिर कर
पड़ती रहीं लाठियाँ फिर भी
कुछ क्षण तक उसके सिर पर।

शंकरराव दौड़ कर आया
द्रुत विद्यार्थी जी के पास;
उनके प्राण बचा लेने का
करने लगा प्रपूर्ण प्रयास।
वार हुए उसके ऊपर भी
मूर्च्छित हो वह गिरा धड़ाम;
छोड़ दिया वधिकों ने उसको
समझ काम हो गया तमाम।

काम अभी बाक़ी था उनका,
अब विद्यार्थीजी की ओर—
करते हुए शोर दौड़े वे
क्रुद्ध भाव से क्रूर कठोर।
डाल उठीं नीचे पृथ्वी भी
काँप उठा ऊपर आकाश;
ज्योतिस्तंभ-तुल्य अविचल हो
खड़े रहे वे पुण्य-प्रकाश!

साथी सज्जन मुसलमान ने
शान्ति-हेतु वह यत्न किया;
"भागो, जान बचाओ" कहकर
पीछे उनको खींच लिया।
"छोड़ो" तन कर कहा उन्होने
"छोड़ो मुझे, यहीं हूँ मै;
नहीं भागना सीखा मैंने,
वह नामर्द नहीं हूँ मै!

क्या गुनाह कर रहे सुनो तुम,
नहीं तुम्हें यह है मालूम;
मजहब का ही गला घोंट कर
मचा रहे मजहब की धूम।
यही चाहते हो, तो आओ,
अपनी जगह अड़ा हूँ मैं;
बुझे खून की प्यास तुम्हारी
लो, तैयार खड़ा हूँ मैं!"

सहज सुरभि शुचिता थी उसमें
और एक था अपना रङ्ग;
फिर भी था पशु-बल-विहीन वह
कुसुम-रूप ही कोमल अङ्ग।
काँटे, पर अपने ही थे वे,
जिनमें था वह प्रथम घिरा;
हत्यारों के हाथ एक ही
झोंके में अब हाय! गिरा!

लट्ठ - लाठियाँ - भाले - बल्लम
    बरस उठे उनके ऊपर;
पूर्णाहुति हो गई, हुतात्मा
    तत्क्षण दीख पड़ा भू पर।
उस शरीर के बन्दीगृह से
    आत्मा वह उड्डीन हुई;
अमर ज्योति वह अमर ज्योति में
    तदाकार, तल्लीन हुई!

हीन हुई दिनकर की आभा
    सान्ध्य गगन में होकर दीन,
हेतु बिना जाने ही सहसा
    सुहृदों के मन हुए मलीन!
व्याप्त हो गया मारुत-रव में
    स्वजनों का अज्ञात विलाप;
फूल गई बापू की छाती
    बहुत दूर अपने ही आप!

ओ मा, तेरी गोदी में है
तेरा लाल पड़ा स्वच्छन्द;
उत्सव आज मना ले अक्षय,
न्यून न हो तेरा आनन्द !
कवि, तू भी आनन्द-नृत्य कर,
मति क्यों मूक हुई तेरी;
युग-युगान्त के वाद वजा ले
घन-गम्भीर विजय-भेरी !

किन्तु अभागे दो दो दृग ये
झर झर झरते हैं निर्झर !
अल्ला हो अकबर का रव वह
स्तब्ध हुआ तत्क्षण रुक कर ।
काँप उठे हत्यारे भी सव
झट से दौड़ गई स्याही;
भीतर पाप छिपाना चाहा,
पर मुँह ने की वदख्वाही ।

अरे दीन के दीवानो, हा !
यह तुमने क्या कर डाला ?
अपने हाथ खून से रँग कर
किया स्वयं निज मुँह काला !
शव निश्चिन्त पड़ा था दोषी
दृष्टि न डाल सके उस ओर;
उस पर वही दिव्य दृढ़ता थी,
उनके लिए कृतान्त-कठोर ।

लड़ता हुआ रहा जीवन भर
परम अहिंसक जो ध्रुव-धीर;
मर कर अब उन हत्यारों पर
छोड़ रहा था तीखे तीर !
वह शव कहीं छिपाने को तब
वे घसीट ले गये तुरन्त;
ओ मूढ़ो, यों घास-फूस से
मूँदोगे यह ज्वाल ज्वलन्त ?

* * * *

पता न लग पाया लोगों को
विद्यार्थीजी गये कहां ?
रात हुई वे किन्तु न लौटे
दौड़े जन तब जहां-तहां।
दुस्सह शोक हुआ नगरी में
हाहाकार अपार हुआ;
अमर-धाम के उस यात्री का
शोध सभी निस्सार हुआ।

उत्पीड़ित पद-दलित जनों ने
मुक्ति - मन्त्र - दाता खोया;
पुण्य-पथी नवयुवक जनों ने
जीवन - निर्माता खोया !
लक्ष-लक्ष श्रमियों-कृषकों ने
त्राता-सा त्राता खोया;
अगणित बन्धुजनों ने अपना
भ्राता-सा भ्राता खोया !

क्षुब्ध हो उठे निखिल नागरिक
भड़क उठा भीतर का क्रोध;
हुए समुद्यत कुछ जन उठ कर
लेने को पूरा प्रतिशोध।
शोक मनायेंगे पीछे हम
पहले पता लगा लेंगे;
दोषी छिपे नरक में भी हो,
दुस्तर दण्ड उन्हें देंगे!

रुको भाइयो, नाम नरक का
न लो आज, उद्भ्रान्त न हो;
गया हुतात्मा अमर स्वर्ग को
उसके लिये अशान्त न हो!
जीवन भर के बाद आज ही
पाई है उसने यह शान्ति,
भङ्ग न कर दो उसे भ्रान्ति-वश
करके क्रूर कठोरा क्रान्ति।

चलकर क्रूर मार्ग पर उसके
निकट नहीं जाओगे तुम;
पथ है उसका अमर प्रेममय,
उसे वहीं पाओगे तुम।
गूँज रहा है अब भी उसकी
जीवन्मुक्त गिरा का घोप;
सुनो, कहीं होगा तो होगा
तुम्हें उसीसे कुछ संतोप।

नीचे खोज रहे हो उसको,
है वह हम सब के ऊपर;
नहीं, बुद्धि बिसरी है मेरी,
है वह यहीं इसी भू पर!
है वह पीड़ित सन्त्रस्तो के
कातर आर्त-निनादो में;
भय-विमुक्त उन माँ-बहनों के
शत-शत आशीर्वादो में!

खिन्न न हो 'हिन्दू' हो यदि तुम,
हुई तुम्हारी ही यह जीत;
मिली तुम्हारे ही भाई को
यह अलभ्य गति देवातीत।
होंगे सदा अनुप्राणित जन
उसका गुण - गौरव गा कर;
यह जय-गीत सुनेंगे फिर फिर
जन्म जन्म में आ आकर।

होता रहा शोध ही उनका,
तीन रात्रियाँ हुईं गता;
भैरव-घाट, जाह्नवी-तट पर
सहसा शव का लगा पता।
पहुँच गया था अन्य शवों के
साथ वहाँ वह एकाएक;
उमड़ पड़े तत्काल जनों के
वहाँ झुण्ड-के-झुण्ड अनेक।

राष्ट्र-पताका की चादर में
था वह चिर-निद्रा में मग्न;
उठो पूज्य ओ बन्धु हमारे,
कर दो आज न यह उर भग्न !
सदा बहाई है तुमने तो
महोल्लास की ही धारा;
प्रतिफल कभी नहीं चाहा है,
लोगे क्या वह अब सारा ?

ओ शान्ति-व्रत, यहाँ कहाँ तुम ?
यह तो है भैरव का घाट;
किस शय्या पर लेटे हो तुम ?
कैसा यह वैराग्य विराट ?
निष्ठुर, तुम चुपचाप पड़े हो,
आँसू ढाल रहे हैं हम;
मृत्युञ्जय तुम हुए, हृदय पर
विषधर पाल रहे हैं हम !

ओ योगी, यह अटल शवासन,
पूर्ण कर्मयोगी तुम तो;
अकस्मात ही हुए हाय रे !
स्वर्ग - सुधा - भोगी तुम तो !
अचल, अखण्डित यह समाधि है,
टूटेगी न अरे यह क्या ?
नहीं सुन सकेंगे फिर से अब
ओजोदीप्त गिरा वह क्या ?

चादर दूर की गई मुँह से—
ऐं, गणेशजी हैं ये ही ?
हैं ये ही, मानें किस मन से,
वे पुनीत पुण्य - स्नेही ?
मुख-ज्योति उड़ गई किधर वह,
क्षत-विक्षत है विकृत वदन;
नहीं जान पड़ता यह जन वह
जिसे जानते हैं जन-जन।

नहीं, नहीं, हो तुम्हीं बन्धुवर,
बता दिया तुमने यह ओह !
इसी देह के लिए हाय ! हम
करते है कितना क्या मोह ।
कम्पित हो उठते है भय से
दो दिन बाद इसे अवलोक;
दीप वही, पर काली बत्ती
निरालोक देती है शोक ।

मान्य विशिष्ट जनो ने उठकर
उनका गौरव - गान किया;
उनके उस स्वर्गीय त्याग का
शुचि सोल्लास बखान किया ।
लोगो ने आसू बरसाये,
विधिवत चिता हुई तैयार;
किया अग्नि-संस्कार मूक-से
आत्मीयो ने किसी प्रकार ।

ओ भाई, हम किसी भाँति भी
त्राण तुम्हारा कर न सके,
रक्षित करके दीन-कोष में
तुम-जैसा धन धर न सके।
कह सकता है किन्तु कौन यह !
हमने आज तुम्हें खोया ?
अपने तनु की खाद बना कर
अमर बीज तुमने बोया।

नहीं बुझेगी चिता तुम्हारी,
उसकी वह ज्वलन्त ज्वाला।
निज प्रकाश से मातृभूमि का
मुख उसने है धो डाला।
तुम्हें भेंट कर क्रूर काल भी
मधुर हो उठा है स्पृहणीय ;
आज तुम्हारे लिए धरा पर
कौन रह गया है परकीय ?

पहले धूम्र, उठीं फिर लपटे,
उठ कर उच्च हुई ज्वाला;
अन्धकार का उर विदीर्ण कर
प्रकट हो उठा उजियाला।
आओ, अरे लूट लें इसको,
खो दे इसको भी न कहीं।
जाओ बन्धु, प्रकाश-पुञ्ज की
रहने दो यह ज्योति यहीं!

जाओ बन्धु, शान्ति हमको भी
दे वह परम पिता तेरी;
आत्मोत्सर्गशालता, शुचिता,
दृढ़ता अपरिमिता तेरी!
निखिल विश्व मे परिव्याप्त हो,
मति वह सर्वहिता तेरी;
घर-घर ज्ञान-प्रदीप जला दे
मरणोद्दीप्त चिता तेरी!

गुरुपूर्णिमा ८८

श्रीसियारामशरण गुप्त लिखित—

आर्द्रा	१)	मौर्य्य-विजय	
विषाद	।–)	अनाथ	

अन्य ग्रन्थ—

चित्राङ्गदा	।=)	विरहिणी व्रजाङ्गना	
गीता-रहस्य	२॥)	पृथ्वीवल्लभ	१।
मेघनाद-वध	३॥)	हेमलता सत्ता	।–
पलासी का युद्ध	१॥)	सुमन	१
वीराङ्गना	१)	रेणु	।–

साहित्य-मणि-माला—

झंकार	॥=)	ढोलकश	॥=
अंकुर	॥=)	पुरातत्व-प्रसंग	॥=
स्वप्न वासवदत्ता	॥=)	रेणुका	॥=
स्वास्थ्य-संलाप	॥=)	आत्मोत्सर्ग(सि० श० गुप्त)	।
दूर्वा-दल(सि० श० गुप्त)	॥=)	आहार	॥=

पता—

प्रबन्धक, साहित्य-सदन,

चिरगाँव (झाँसी)